नमस्कार महामन्त्र : एक विश्लेषण

□ युवाचार्यश्री महाप्रज्ञजी

(तेरापंथ सम्प्रदाय)

कुछ लोग परम्परावादी होते हैं। वे परम्परा से प्राप्त अपने शास्त्रों को शाश्वत मानते चले जाते हैं। उन्हें उन शास्त्रों के पाठ और अर्थ में किसी अनुसन्धान की अपेक्षा अनुभूत नहीं होती। किन्तु अनुसन्धित्सु वर्ग इस बात को स्वीकार नहीं करता। वह शास्त्र के पाठ और अर्थ—दोनों का अनुसन्धान करता है और जो कुछ नया उपलब्ध होता है उसे विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत भी करता है।

हमने आचार्य श्री तुलसी के वाचना-प्रमुखत्व में जैन-आगमों के अनुसन्धान का कार्य प्रारम्भ किया। एक ओर हम पाठ का अनुसन्धान कर रहे हैं तो दूसरी ओर अर्थ के अनुसन्धान का कार्य भी चलता है। आगमों के सूत्र-पाठ की अनेक वाचनाएँ हैं और पन्द्रह सौ वर्ष की इस लम्बी अवधि में, अनेक कारणों से उनमें अनेक पाठ-भेद हो गये हैं। अर्थभेद उनसे भी अधिक मिलता है। अनुसन्धान का उद्देश्य है मूल-पाठ और मूल-अर्थ की खोज। अनेक प्रकार के पाठों और अर्थों में से मूल पाठ और अर्थ की खोज निकालना कोई सरल कार्य नहीं है। फिर भी मनुष्य प्रयत्न करता है और कठिन कार्य को सरल बनाने की उसमें भावना सन्निहित होती है। हमारा प्रयत्न और हमारी भावना मूल के अनुसन्धान की दृष्टि से प्रेरित है। इसीलिए इस कार्य के प्रति हमारा दृष्टिकोण सत्य के प्रति समर्पित है, किसी सम्प्रदाय या किसी विशेष विचार के प्रति समर्पित नहीं है।

मंगलवाद

दार्शनिक युग में शास्त्र के प्रारम्भ में मंगल, अभिधेय, सम्बन्ध और प्रयोजन—ये चार अनुबन्ध बतलाये जाते थे। आगम युग में इन चारों की परम्परा प्रचलित नहीं थी। आगमकार अपने अभिधेय के साथ ही अपने आगम का प्रारम्भ करते थे। आगम स्वयं मंगल हैं। उनके लिए फिर मंगल-वाक्य आवश्यक नहीं होता। जयधवला में लिखा है कि आगम में मंगल-वाक्य का नियम नहीं है। क्योंकि परम आगम में चित्त को केन्द्रित करने से नियमतः मंगल का फल उपलब्ध हो जाता है।[1] इस विशेष अर्थ को ज्ञापित करने के लिए भट्टारक गुणधर ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में मंगल नहीं किया।[2]

---

१. कसाय पाहुड, भाग १, गाथा १, पृ० ६ :
एत्थ पुण णियमो णत्थि, परमागमुवजोगम्मि णियमेण मंगलफलोवलंभादो।

२. वही, पृ० ६ :
एतस्स अत्थविसेसस्स जाणावणट्ठं गुणहरभडारएण गंथस्सादीए ण मंगलं कथं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचारांग सूत्र के प्रारम्भ में मंगल-वाक्य उपलब्ध नहीं है। उसका प्रारम्भ—'सुयं मे आउसं ! तेण भगवया एवमक्खायं'—इस वाक्य से होता है।

सूत्रकृतांग सूत्र का प्रारम्भ—'बुज्झेज्झ तिउट्टेज्जा'—इस उपदेश-वाक्य से होता है।

स्थानांग और समवायांग सूत्र के आदि-वाक्य 'सुयं मे आउसं ! तेण भगवता एवमक्खातं'—हैं।

भगवती सूत्र के प्रारम्भ में तीन मंगल वाक्य मिलते हैं—

१. **नमो अरहंताणं।**
नमो सिद्धाणं।
नमो आयरियाणं।
नमो उवज्झायाणं।
नमो सव्व साहूणं

२ **नमो बंभीए लिवीए**

३. **नमो सुयस्स।**

ज्ञाताधर्मकथा, उपासकदशा, अन्तकृतदशा, अनुत्तरोपपातिकदशा—इन सब सूत्रों का प्रारम्भ 'तेण कालेणं तेण समएणं'—से होता है।

प्रश्नव्याकरण सूत्र का आदि-वाक्य है—'जम्बू।'

विपाकसूत्र का आदि-वाक्य वही—'तेण कालेणं तेण समएणं' है।

जैन आगमों में द्वादशांगी स्वतः प्रमाण है। यह गणधरों द्वारा रचित मानी जाती है। इसका बारहवाँ अंग उपलब्ध नहीं है। उपलब्ध ग्यारह अंगों में, केवल भगवती सूत्र के प्रारम्भ में मंगल-वाक्य हैं, अन्य किसी अंग-सूत्र का प्रारम्भ मंगल-वाक्य से नहीं हुआ है। सहज ही प्रश्न होता है कि उपलब्ध ग्यारह अंगों में से केवल एक ही अंग में मंगल-वाक्य का विन्यास क्यों ?

कालान्तर में मंगल-वाक्य के प्रक्षिप्त होने की अधिक संभावना है। जब यह धारणा रूढ़ हो गई कि आदि, मध्य और अन्त में मंगल-वाक्य होना चाहिए तब ये मंगल-वाक्य लिखे गये।[1]

भगवती सूत्र के पन्द्रहवें शतक के प्रारम्भ में भी मंगल-वाक्य उपलब्ध होता है 'नमो सुयदेवयाए भगवईए'। अभयदेवसूरि ने इसकी व्याख्या नहीं की है। इससे लगता है कि प्रारम्भ के मंगल-वाक्य लिपिकारों या अन्य किसी आचार्य ने वृत्ति की रचना से पूर्व जोड़ दिये थे और मध्यवर्ती मंगल वृत्ति की रचना के बाद जुड़ा। पन्द्रहवें अध्ययन का पाठ विघ्नकारक माना जाता था, इसलिए इस अध्ययन से साथ मंगल-वाक्य जोड़ा गया, यह बहुत संभव है। मंगल-वाक्य के प्रक्षिप्त होने की बात अन्य आगमों से भी पुष्ट होती है।

दशाश्रुतस्कन्ध की वृत्ति में मंगल-वाक्य के रूप में नमस्कार मंत्र व्याख्यात है, किन्तु चूर्णि में वह व्याख्यात नहीं है। इससे स्पष्ट है कि चूर्णि के रचनाकाल में वह प्रतियों में उपलब्ध नहीं था और वृत्ति की रचना से पूर्व वह उनमें जुड़ गया था। कल्पसूत्र (पर्यूषणाकल्प) दशाश्रुतस्कन्ध का आठवाँ अध्ययन है। उसके प्रारम्भ में भी नमस्कार मंत्र लिखा हुआ मिलता है। आगम के अनुसन्धाता मुनि पुण्यविजयजी ने इसे प्रक्षिप्त माना है। उनके अनुसार प्राचीनतम

---

१. **विशेषावश्यकभाष्य, गाथा० १३, १४ :**
तं मंगलमाईए मज्झेपज्जंतए य सत्थस्स।
पठमं सत्थस्साविग्घपारगमणाए निद्दिट्ठं ॥
तस्सेवाविग्घत्थं मज्झिमयं अंतिमं च तस्सेव।
अव्वोच्छित्तिनिमित्तं सिस्सपसिस्साइवंसस्स॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ताड़पत्रीय प्रतियों में यह उपलब्ध नहीं है और वृत्ति में भी व्याख्यात नहीं है। यह अष्टम अध्ययन होने के कारण इसमें मध्य मंगल भी नहीं हो सकता। इसलिए यह प्रक्षिप्त है।[1]

प्रज्ञापना सूत्र के प्रारम्भ में भी नमस्कार मन्त्र लिखा हुआ मिलता है, किन्तु हरिभद्रसूरि और मलयगिरि—इन दोनों व्याख्याकारों के द्वारा यह व्याख्यात नहीं है।

प्रज्ञापना के रचनाकार श्री श्यामार्य ने मंगल-वाक्यपूर्वक रचना का प्रारम्भ किया है।[2] इससे ज्ञात होता है कि ई० पू० पहली शताब्दी के आस-पास आगम-रचना से पूर्व मंगल-वाक्य लिखने की पद्धति प्रचलित हो गई। प्रज्ञापनाकार का मंगल-वाक्य उनके द्वारा रचित है। इसे निबद्ध-मंगल कहा जाता है। दूसरों के द्वारा रचे हुए मंगल-वाक्य उद्धृत करने को 'अनिबद्ध मंगल' कहा जाता है।[3] प्रति-लेखकों ने अपने प्रति-लेखन में कहीं-कहीं अनिबद्ध-मंगल का प्रयोग किया है। इसीलिए मंगल-वाक्य लिखने की परम्परा का सही समय खोज निकालना कुछ जटिल हो गया।

नमस्कार-महामन्त्र के पाठ-भेद

नमस्कार मन्त्र का बहुप्रचलित पाठ यह है—**णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोएसव्वसाहूणं।**

प्राचीन ग्रन्थों में इसके अनेक पदों एवं वाक्यों के पाठान्तर मिलते हैं—

णमो—नमो

अरहंताणं—अरिहंताणं, अरुहंताणं।

आयरियाणं—आइरियाणं।

णमो लोए सव्वसाहूणं—णमो सब्व साहूणं।

नमो अरहंतानं, नमो सव-सिधानं।

प्राकृत में आदि में 'न' का 'ण' विकल्प होता है। इसलिए 'नमो' 'णमो' ये दोनों रूप मिलते हैं।

प्राकृत में 'अर्ह्' धातु के दो रूप बनते हैं—**अरहइ, अरिहइ। 'अरहंताणं'** और **'अरिहंताणं'** ये दोनों 'अर्ह्' धातु के शतृ प्रत्ययान्त रूप हैं। 'अरहंत' और 'अरिहंत'—इन दोनों में कोई अर्थभेद नहीं है। व्याख्याकारों ने 'अरिहंत' शब्द को संस्कृत की दृष्टि से देखकर उसमें अर्थभेद किया है। अरि+हंत—शत्रु का हनन करने वाला। यह अर्थ शब्द-साम्य के कारण किया गया है। आवश्यकनिर्युक्ति में यह अर्थ उपलब्ध है।[4] अर्हता का अर्थ इसके बाद किया गया

---

१. **कल्पसूत्र (मुनि पुण्यविजयजी द्वारा संपादित), पृ० ३ :**
कल्पसूत्रारम्भे नेतद् नमस्कारसूत्ररूपं सूत्रं भूम्ना प्राचीनतमेषु ताडपत्रीयादर्शेषु दृश्यते, नापि टीकाकृदादिभिरेतदादृतं व्याख्यातं वा, तथा चास्य कल्पसूत्रस्य दशाश्रुतस्कन्धसूत्रस्याष्टमाध्ययनत्वान्न मध्ये मंगलरूपत्वेनापि एतत्सूत्रं संगतमिति प्रक्षिप्तमेवैतद् सूत्रमिति।

२. **प्रज्ञापना, पद १, गाथा १ :**
ववगयजरमरण भए सिद्धे अभिवंदिऊण तिविहेणं।
वंदामि जिणवरिंदं, तेलोक्कगुरुं महावीरं॥

३. **धवला, षट्खडागम १।१।१, पृ० ४२ :**
तं च मंगलं दुविहं, णिबद्धमणिबद्धमिदि। तथ्य णिबद्धं णाम, जो सुत्तस्सादीए सुत्तकत्तारेण कयदेवदाणमोक्कारो, तं णिबद्धमंगलं। जो सुत्तस्सादीए सुत्तकत्तारेण ण णिबद्धो देवदाणमोक्कारो, तमणिबद्धमंगलं।

४. **आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा ९१९ ; ९२० :**
इंदियविसयकसाये परीसहे वेयणाओ उवसग्गे।
एए अरिणो हंता, अरिहंता तेण वुच्चंति॥
अट्ठविहं वि अ कम्मं, अरिभूअं होइ सव्वजीवाणं।
तं कम्ममरिं हंता अरिहंता तेण वुच्चंति॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है।[1] इस अर्थभेद के होने पर 'अरहंत' और 'अरिहंत' ये दोनों एक ही धातु के दो रूपों से निष्पन्न दो शब्द नहीं होते किन्तु भिन्न-भिन्न अर्थ वाले दो शब्द बन जाते हैं।

आवश्यकसूत्र के निर्युक्तिकार ने अरिहंत, अरहंत के तीन अर्थ किए हैं---

१. पूजा की अर्हता होने के कारण अरहंत।
२. अरि का हनन करने के कारण अरिहंत।
३. रज-कर्म का हनन करने के कारण अरिहंत।[2]

वीरसेनाचार्य ने 'अरिहंताणं' पद के चार[3] अर्थ किये हैं---

१. अरि का हनन करने के कारण अरिहंत।
२. रज का हनन करने के कारण अरिहंत।
३. रहस्य के अभाव से अरिहंत।
४. अतिशय पूजा की अर्हता होने के कारण अरिहंत।

प्रथम तीन अर्थ अरि+हन्ता—इन दो पदों के आधार पर किए गए हैं और चौथा अर्थ अर्ह् धातु के 'अरहंता' पद के आधार पर किया गया है। भाषायी दृष्टि से 'नमो' और 'णमो' तथा 'अरहंताणं' और 'अरिहंताणं' इन दो में मात्र रूपभेद है, किन्तु मन्त्रशास्त्रीय दृष्टि से 'न' और 'ण' के उच्चारण की भिन्न-भिन्न प्रतिक्रिया होती है। 'ण' मूर्धन्य वर्ण है। उसके उच्चारण से जो घर्षण होता है, जो मस्तिष्कीय प्राण-विद्युत् का संचार होता है, वह 'न' के उच्चारण से नहीं होता।

अरहंताणं के अकार और अरिहंताणं के इकार का भी मन्त्रशास्त्रीय अर्थ एक नहीं है। मन्त्रशास्त्र के अनुसार अकार का वर्ण स्वर्णिम और स्वाद नमकीन होता है तथा इकार का वर्ण स्वर्णिम और स्वाद कषैला होता है।

अकार पुंल्लिग और इकार नपुंसकलिग होता है।[4]

अरुहंताणं

यह पाठ-भेद भगवती सूत्र की वृत्ति में व्याख्यात है। वृत्तिकार अभयदेवसूरि ने इसका अर्थ अपुनर्भव किया है। जैसे बीज के अत्यन्त दग्ध हो जाने पर उसके अंकुर नहीं फूटता, वैसे ही कर्म-बीज के अत्यन्त दग्ध हो जाने पर भवांकुर नहीं फूटता।'[5]

---

१. **आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा ९२१ :**
अरिहंति वंदणनमंसणाणि अरिहंति पूअसक्कारे।
सिद्धिगमणं च अरिहा अरहंता तेण वुच्चंति ॥

२. **आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा ९२२ :**
देवासुरमणुएसु अरिहा पूआ सुरुत्तमा जम्हा।
अरिणो इयं च हंता अरहंता तेण वुच्चंति ॥

३. **धवला, षटखंडागम १।१।१, पृष्ठ ४३-४५ :**
अरिहननादरिहन्ता।""""रजोहननाद् वा अरिहन्ता।""""रहस्याभावाद् वा अरिहन्ता।""""अतिशयपूजार्हत्वात् वार्हन्तः।

४. **विद्यानुशासन, योगशास्त्र, पृ० ९०, ९१.**

५. **भगवती वृत्ति, पत्र ३ :**
अरुहंताणमित्यपि पाठान्तरं, तत्र अरोहद्भ्यः, अनुपजायमानेभ्यः क्षीणकर्मबीजत्वात्, आह च---
दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं, प्रादुर्भवति नांकुरः।
कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवांकुरः ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आवश्यकनिर्युक्ति और धवला में 'अरुहंत' पाठ व्याख्यात नहीं है। इससे प्रतीत होता है कि यह पाठान्तर उनके उत्तरकाल में बना है। ऐसी अनुश्रुति भी है कि यह पाठान्तर तमिल और कन्नड़ भाषा के प्रभाव से हुआ है। किन्तु इसकी पुष्टि के लिए कोई प्रमाण प्राप्त नहीं है।

अरुह शब्द का प्रयोग आचार्य कुन्दकुन्द के साहित्य में मिलता है। उन्होंने 'अरुहंत' और 'अरहंत' का एक ही अर्थ में प्रयोग किया है। वे दक्षिण के थे, इसलिये 'अरहंत' के अर्थ में 'अरुह' का प्रयोग दक्षिण के उच्चारण से प्रभावित है, इस उपपत्ति की पुष्टि होती है। बोध प्राभृत में उन्होंने 'अर्हत्' का वर्णन किया है। उसमें २८, २६, ३०, ३२ इन चार गाथाओं में 'अरहंत' का प्रयोग है और ३१, ३४, ३६, ३६, ४१ इन पाँच गाथाओं में 'अरुह' का प्रयोग है।

आचार्य हेमचन्द्र ने उपलब्ध प्रयोगों के आधार पर अर्हत् शब्द के तीन रूप सिद्ध किये हैं—अरुहो, अरहो, अरिहो। अरुहन्तो, अरहन्तो, अरिहन्तो।[1]

डा० पिसेल ने अरिहा, अरहा, अरुहा और अलिहन्त का विभिन्न भाषाओं की दृष्टि से अध्ययन प्रस्तुत किया है।[2]

अरहा, अरहन्त	—अर्धमागधी
अरिहा	—शौरसेनी
अरुहा	—जैन महाराष्ट्री
अलिहंताणं	—मागधी

आयरियाणं—आइरियाणं

आगम साहित्य में यकार के स्थान में इकार के प्रयोग मिलते हैं—वयगुप्त—वइगुप्त, वयर—वइर।

इस प्रकार 'आयरिय' और 'आइरिय' में रूप-भेद है।

णमो लोए सव्वसाहूणं—णमो सव्वसाहूणं

अभयदेवसूरि के अनुसार भगवती सूत्र के मंगलवाक्य के रूप में उपलब्ध नमस्कार मन्त्र का पाँचवाँ पद, 'णमो सव्व साहूणं'। 'णमो लोए सव्वसाहूणं' का उन्होंने पाठान्तर के रूप के उल्लेख किया है—'णमो लोए सव्वसाहूणं ति क्वचित्पाठः'।[3] इस पाठान्तर की व्याख्या में उन्होंने बताया है कि 'सर्व' शब्द आंशिक सर्व के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। अतः परिपूर्ण सर्व का बोध कराने के लिए इस पाठान्तर में 'लोक' शब्द का प्रयोग किया गया है।[4] 'लोक' और 'सर्व' इन दोनों शब्दों के होने पर यह प्रश्न होना स्वाभाविक ही है और अभयदेवसूरि ने इसी का समाधान किया है।

दशाश्रुतस्कन्ध के वृत्तिकार ब्रह्मऋषि ने भी 'णमो लोए सव्वसाहूणं' को पाठान्तर के रूप में व्याख्यात किया है। वे इसकी व्याख्या में अभयदेवसूरि का अक्षरशः अनुकरण करते हैं।[5]

---

१. हेम शब्दानुशासन, ८/२/१११ : उच्चार्हति।

२. कम्पेरेटिव ग्रामर आफ दी प्राकृत लेंग्वेजेज—पिशल, १४०, पृ० ११३.

३. भगवती वृत्ति, पत्र ४.

४. भगवती वृत्ति पत्र ४—
तत्र सर्वशब्दस्य देशसर्वतायामपि दर्शनादपरिशेषसर्वतोपदर्शनार्थमुच्यते 'लोके'—मनुष्यलोके न तु गच्छादौ ये सर्वसाधवस्तेभ्यो नमः।

५. हस्तलिखित वृत्ति, पत्र ४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हमने अभयदेवसूरि की वृत्ति के आधार पर भगवती सूत्र में 'णमो सव्वसाहूणं' को मूलपाठ और 'णमो लोए सव्वसाहूणं' को पाठान्तर स्वीकृत किया है। इसका यह अर्थ नहीं है कि 'णमो लोए सव्वसाहूणं' सर्वत्र पाठान्तर है। आवश्यक सूत्र में हमने 'णमो लोए सव्वसाहूणं' को ही मूलपाठ माना है। हमने आगम-अनुसन्धान की जो पद्धति निर्धारित की है, उसके अनुसार हम प्राचीनतम प्रति या चूर्णि, वृत्ति आदि व्याख्या में उपलब्ध पाठ को प्राथमिकता देते हैं। सबसे अधिक प्राथमिकता आगम में उपलब्ध पाठ को देते हैं। आगम के द्वारा आगम के पाठ संशोधन में सर्वाधिक प्रामाणिकता प्रतीत होती है। इस पद्धति के अनुसार हमें सर्वत्र 'णमो लोए सव्वसाहूणं' इसे मूलपाठ के रूप में स्वीकृत करना चाहिए था, किन्तु नमस्कार मन्त्र किस आगम का मूलपाठ है, इसका निर्णय अभी नहीं हो पाया है। यह जहाँ कहीं उपलब्ध है वहाँ ग्रन्थ के अवयवरूप में उपलब्ध नहीं है, मंगलवाक्य के रूप में उपलब्ध है। आवश्यकसूत्र के प्रारम्भ में नमस्कार मन्त्र मिलता है। किन्तु वह आवश्यक का अंग नहीं है। आवश्यक के मूल अंग सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव आदि हैं। इस दृष्टि से भगवती सूत्र में नमस्कार मन्त्र का जो प्राचीन रूप हमें मिला वही हमने मूलरूप में स्वीकृत किया। अभयदेवसूरि की व्याख्या से प्राचीन या समकालीन कोई भी प्रति प्राप्त नहीं है। यह वृत्ति ही सबसे प्राचीन है। इसलिए वृत्तिकार द्वारा निर्दिष्ट पाठ और पाठान्तर का स्वीकार करना ही उचित प्रतीत हुआ। 'णमो सव्वसाहूणं' पाठ मौलिक है या 'णमो लोए सव्वसाहूणं' पाठ मौलिक है—इसकी चर्चा यहाँ अपेक्षित नहीं है। यहाँ इतनी ही चर्चा अपेक्षित है कि अभयदेवसूरि को भगवती सूत्र की प्रतियों में 'णमो सव्वसाहूणं' पाठ प्राप्त हुआ और क्वचित् 'णमो लोए सव्वसाहूणं' पाठ मिला।

नमो अरहंतानं–नमो सव–सिधानं

यह पाठान्तर खारवेल के हाथीगुफा लेख में मिलता है।[1] इसमें अन्तिम नकार भी णकार नहीं है, सिद्ध के साथ सर्व शब्द का योग है और 'सिधानं' में द्वित्व 'ध' प्रयुक्त नहीं है। यह पाठ भी बहुत पुराना है, इसलिए इसे भी उपेक्षित नहीं किया जा सकता।

नमस्कार महामन्त्र का मूल स्रोत

नमस्कार महामन्त्र आदि-मंगल के रूप में अनेक आगमों और ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। अभयदेवसूरि ने भगवती सूत्र की वृत्ति के प्रारम्भ में नमस्कार महामन्त्र की व्याख्या की है। प्रज्ञापना के आदर्शों में प्रारम्भ में नमस्कार महामन्त्र लिखा हुआ मिलता है। किन्तु मलयगिरि ने प्रज्ञापना वृत्ति में उसकी व्याख्या नहीं की। षट्खण्ड के प्रारम्भ में नमस्कार महामन्त्र मंगलसूत्र के रूप में उपलब्ध है। इन सब उपलब्धियों से उसके मूल स्रोत का पता नहीं चलता। महानिशीथ में लिखा है कि पंचमंगल महाश्रुतस्कंध का व्याख्यान सूत्र की निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णियों में किया गया था और वह व्याख्यान तीर्थंकरों के द्वारा प्राप्त हुआ था। कालदोष से वे निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णियाँ विच्छिन्न हो गईं। फिर कुछ समय बाद वज्रस्वामी ने नमस्कार महामन्त्र का उद्धार कर उसे मूल सूत्र में स्थापित किया। यह बात वृद्ध सम्प्रदाय के आधार पर लिखी गई है।[2] इससे भी नमस्कार मन्त्र के मूल स्रोत पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता।

---

१. प्राचीन भारतीय अभिलेख, द्वितीय खण्ड, पृष्ठ २६.

२. इओ य वच्चंतेणं कालेणं समएणं महड्ढिपत्ते पयाणुसारी वइरसामी नाम दुवालसंगसुअहरे समुप्पन्ने। तेण य पंच मंगल महासुयक्खंधस्स उद्धारो मूल-सुत्तस्स मज्झेलिहिओ·······एस वुड्ढसंपयाओ। एयं तु जं पंचमंगलमहासुयक्खंधस्स वक्खाणं तं महया पबंधेण अणंतगयपज्जवेहिं सुत्तस्स य पियभूयाहि णिजुत्तिभासचुन्नीहिं जहेव अणंतणाणदंसणधरेहिं तित्थयरेहिं वक्खाणियं समासओ वक्खाणिज्जंतं आसि। अहन्नयाकालपरिहाणिदोसेणं ताओ णिजुत्ति-भास-चुन्नीओ वुच्छिन्नाओ।

—महानिशीथ, अध्ययन ५, अभिधान राजेन्द्र, पृ० १८३५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आवश्यकनिर्युक्ति में वज्रसूरि के प्रकरण में उक्त घटना का उल्लेख भी नहीं है। वज्रसूरि दस पूर्वधर हुए हैं। उनका अस्तित्वकाल ई० पू० पहली शताब्दी है। शय्यंभवसूरि चतुर्दश पूर्वधर हुए हैं और उनका अस्तित्वकाल ई० पू० ५-६ शताब्दी है। उन्होंने कायोत्सर्ग को नमस्कार के द्वारा पूर्ण करने का निर्देश किया है।[1] दोनों चूर्णियों और हारिभद्रीय वृत्ति में नमस्कार की व्याख्या **'णमो अरहंताणं'** मन्त्र के रूप में की है।[2]

आचार्य वीरसेन ने षट्खंडागम के प्रारम्भ में दिये गये नमस्कार मन्त्र को निबद्ध-मंगल बतलाया है।[3] इसका फलित यह होता है कि नमस्कार महामन्त्र के कर्त्ता आचार्य पुष्पदन्त हैं। आचार्य वीरसेन ने यह किस आधार पर लिखा, इसका कोई अन्य प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। जैसे भगवती सूत्र की प्रतियों के प्रारम्भ में नमस्कार महामन्त्र लिखा हुआ था और अभयदेवसूरि ने उसे सूत्र का अंग मानकर उसकी व्याख्या की, वैसे ही आचार्य वीरसेन ने षट्खंडागम की प्रति के प्रारम्भ में लिखे हुए नमस्कार महामन्त्र को उसका अंग मानकर आचार्य पुष्पदन्त को उसका कर्त्ता बतला दिया। आचार्य पुष्पदन्त का अस्तित्व-काल वीर निर्वाण की सातवीं शताब्दी (ई० पहली शताब्दी) है। खारवेल का शिलालेख ई० पू० १५२ का है। उसमें 'नमो अरहंताणं' 'नमो सव्वसिद्धाणं' ये पद मिलते हैं। इससे नमस्कार महामन्त्र का अस्तित्व काल आचार्य पुष्पदन्त से बहुत पहले चला जाता है। शय्यंभवसूरि का दशवैकालिक में प्राप्त निर्देश भी इसी ओर संकेत करता है। भगवान् महावीर दीक्षित हुए तब उन्होंने सिद्धों को नमस्कार किया था।[4] उत्तराध्ययन के बीसवें अध्ययन के प्रारम्भ में **'सिद्धाणं नमो किच्चा, संजयाणं भावओ'** सिद्ध और साधुओं को नमस्कार किया गया है। इन सबसे यह निष्कर्ष निकलता है कि नमस्कार की परिपाटी बहुत पुरानी है और उसका रूप भी बहुत पुराना है किन्तु भगवान् महावीर के काल में पंच मंगलात्मक नमस्कार मन्त्र प्रचलित था या नहीं—इस प्रश्न का निश्चयात्मक उत्तर देना सरल नहीं है। महानिशीथ के उक्त प्रसंग के आधार पर कहा जा सकता है कि वर्तमान स्वरूपवाला नमस्कार महामन्त्र भगवान् महावीर के समय में प्रचलित था। किन्तु उसकी पुष्टि के लिए कोई दूसरा प्रमाण अपेक्षित है। आवश्यकनिर्युक्ति में एक महत्त्वपूर्ण सूचना मिलती है। निर्युक्तिकार ने लिखा है—पंच परमेष्ठियों को नमस्कार कर सामायिक करना चाहिए। यह पंच नमस्कार सामायिक का ही एक अंग है।[5] इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि नमस्कार महामन्त्र उतना ही पुराना है जितना सामायिक सूत्र। सामायिक आवश्यक का प्रथम अध्ययन है। नंदी में आई हुई आगम की सूची में उसका उल्लेख है। नमस्कार महामन्त्र का वहाँ एक श्रुतस्कन्ध या महाश्रुतस्कन्ध के रूप में कोई उल्लेख नहीं है। इससे भी अनुमान किया जा सकता है कि यह सामायिक अध्ययन का एक अंगभूत रहा है। सामायिक के प्रारम्भ में और उसके अन्त में पंच परमेष्ठी को नमस्कार किया जाता था। कायोत्सर्ग के प्रारम्भ

---

१. दसवेआलियं, ५।१।९३ : "णमोक्कारेण पारित्तए"।

२. (क) अगस्त्य० चूर्णि, पृ० १२३ :
'नमो अरहंताणं' त्ति एतेण वयणेण काउस्सग्गं पारेत्ता।
(ख) जिनदासचूर्णि, पृ० १८९.
(ग) हारिभद्रीय वृत्ति, पत्र १८० :
नमस्कारेण पारयित्वा 'नमो अरहंताणं इत्यनेन'।

३. षट्खंडागम, खंड १, भाग १, पुस्तक १, पृ० ४२ :
इदं पुण जीवट्ठाणं णिबद्धमंगलं। एत्तो इमेसिं चोद्दसण्हं जीवसमासाणं इदि एदस्ससुत्तस्सादीए णिबद्ध 'णमो अरहंताणं' इच्चादि देवदाणमोक्कारदंसणादो।

४. **आयारचूला, १५**।३२ :—"सिद्धाणं णमोक्कारं करेइ।"

५. **आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा १०२७** :
कयपंचनमोक्कारो करेइ सामाइयंति सोऽभिहितो।
सामाइयंगमेव य जं सो सेसं अतो वोच्छं॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और अन्त में भी पंचनमस्कार की पद्धति प्रचलित थी। आचार्य भद्रबाहु के अनुसार नंदी और अनुयोगद्वार को जानकर तथा पंचमंगल को नमस्कार कर सूत्र का प्रारम्भ किया जाता है।[1] संभव है इसीलिए अनेक आगम-सूत्रों के प्रारम्भ में नमस्कार महामन्त्र लिखने की पद्धति प्रचलित हुई। जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने उसी आधार पर नमस्कार महामन्त्र को सर्वश्रुतान्तर्गत बतलाया।[2] उनके अनुसार पंचनमस्कार करने पर ही आचार्य सामायिक आदि आवश्यक और क्रमशः शेष श्रुत शिष्यों को पढ़ाते थे। प्रारम्भ में नमस्कार मन्त्र का पाठ देने और उसके बाद आवश्यक का पाठ देने की पद्धति थी।[3] इस प्रकार अन्य सूत्रों के प्रारम्भ में भी नमस्कार मन्त्र का पाठ किया जाता था। इस दृष्टि से उसे सर्वश्रुताभ्यन्तर्वर्ती कहा गया। फिर भी नमस्कार मन्त्र को जैसे सामायिक का अंग बतलाया है वैसे किसी अन्य आगम का अंग नहीं बतलाया गया है। इस दृष्टि से नमस्कार महामन्त्र का मूलस्रोत सामायिक अध्ययन ही सिद्ध होता है। आवश्यक या सामायिक अध्ययन के कर्त्ता यदि गौतम गणधर को माना जाए तो पंचमंगल रूप नमस्कार महामन्त्र के कर्त्ता भी गौतम गणधर ही ठहरते हैं।

नमस्कार महामन्त्र के पद

कुछ आचार्यों ने नमस्कार महामन्त्र को अनादि बतलाया है। यह श्रद्धा का अतिरेक ही प्रतीत होता है। तत्त्व या अर्थ की दृष्टि से कुछ भी अनादि हो सकता है। उस दृष्टि से द्वादशांग गणिपिटक भी अनादि है। किन्तु शब्द या भाषा की दृष्टि से द्वादशांग गणिपिटक भी अनादि नहीं है, फिर नमस्कार महामन्त्र अनादि कैसे हो सकता है? हम इस बात को भूल जाते हैं कि जैन आचार्यों ने वेदों की अपौरुषेयता का इसी आधार पर निरसन किया था कि कोई भी शब्दमय ग्रन्थ अपौरुषेय नहीं हो सकता, अनादि नहीं हो सकता। जो वाङ्मय है वह मनुष्य के प्रयत्न से ही होता है और जो प्रयत्नजन्य होता है वह अनादि नहीं हो सकता। नमस्कार महामन्त्र वाङ्मय है। इसे हम यदि अनादि मानें तो वेदों के अपौरुषेयत्व और अनादित्व के निरसन का कोई अर्थ ही नहीं रहता।

नमस्कार महामन्त्र जिस रूप में आज उपलब्ध है उसी रूप में भगवान् महावीर के समय में या उनसे पूर्व पार्श्व आदि तीर्थंकरों के समय में उपलब्ध था या नहीं, इस पर निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता। फिर भी इस संभावना को इन्कार नहीं किया जा सकता कि भगवान् महावीर के समय में 'नमो सिद्धाणं' यह पद प्रचलित रहा हो और फिर आवश्यक की रचना के समय उसके पाँच पद किये गये हों। भगवान् महावीर के समय में आचार्य और उपाध्याय की व्यवस्था नहीं मिलती। उसका विकास उनके निर्वाण के बाद हुआ है और बहुत संभव है कि 'नमो आयरियाणं, नमो उवज्झायाणं' ये पद उसी समय नमस्कार मन्त्र के साथ जुड़े हों। नमस्कार महामन्त्र के पदों को लेकर जो चर्चा प्रारम्भ हुई थी, उससे इस बात की सूचना मिलती है। चर्चा का एक पक्ष यह था कि नमस्कार महामन्त्र संक्षिप्त और विस्तार--दोनों दृष्टियों से ठीक नहीं है। यदि इसका संक्षिप्त हो तो 'णमो सिद्धाणं' 'णमो लोए सव्वसाहूणं'—ये दो ही पद होने चाहिए। यदि इसका विस्तृत रूप हो तो इसके अनेक पद होने चाहिए। जैसे—नमो केवलीणं, नमो सुयकेवलीणं, नमो ओहिनाणीणं, नमो मणपज्जवनाणीणं, आदि-आदि।

दूसरे पक्ष का चिन्तन यह था कि अर्हत्, आचार्य और उपाध्याय नियमतः साधु होते हैं, किन्तु जो साधु

---

१. **आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा १०२६ :**
नंदिमणुओगदारं विहिवदुवग्धाइयं च नाऊणं।
काऊण पंचमंगलमारंभो होइ सुत्तस्स॥

२. **विशेषावश्यकभाष्य, गाथा ९ :**
सो भव्वसुतक्खंधब्भन्तरभूतो जओ ततो तस्स।
आवासपाणुयोगादिगहणगहितोऽणुयोगो वि॥

३. **विशेषावश्यकभाष्य, गाथा ८.**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होते हैं वे नियमतः अर्हत्, आचार्य और उपाध्याय नहीं होते। कुछेक साधु अर्हत् आदि होते हैं।[1] साधु को नमस्कार करने में वह फल प्राप्त नहीं होता जो अर्हत् को नमस्कार करने में होता है। इस दृष्टि से नमस्कार महामन्त्र के पाँच पद किए गए हैं।[2] उत्तरपक्ष का तर्क बहुत शक्तिशाली नहीं है, फिर भी इस प्रसंग से द्विपक्षीय चिन्तन की सूचना अवश्य मिल जाती है। कर्त्ता की अपनी-अपनी अपेक्षा होती है। जिस समय अर्हत्, आचार्य और उपाध्याय का महत्त्व बढ़ गया था उस समय महामन्त्र के कर्त्ता उनको स्वतन्त्र स्थान कैसे नहीं देते?

नमस्कार महामन्त्र के पदों का क्रम

नमस्कार महामन्त्र के पदों का क्रम भी चर्चित रहा है। क्रम दो प्रकार का होता है—पूर्वानुपूर्वी और पश्चानुपूर्वी। पूर्व पक्ष का कहना है कि नमस्कार महामन्त्र में ये दोनों प्रकार के क्रम नहीं है। यदि पूर्वानुपूर्वी क्रम हो तो 'णमो सिद्धाणं, णमो अरहंताणं' ऐसा होना चाहिए। यदि पश्चानुपूर्वी क्रम हो तो 'णमो लोए सव्वसाहूणं'—यहाँ से वह प्रारम्भ होना चाहिए और उसके अन्त में 'णमो सिद्धाणं' होना चाहिए।[3] उत्तरपक्ष का प्रतिपादन यह रहा कि नमस्कार महामन्त्र का क्रम पूर्वानुपूर्वी ही है। इसमें क्रम का व्यत्यय नहीं है। इस क्रम की पुष्टि के लिए निर्युक्तिकार ने यह तर्क प्रस्तुत किया कि सिद्ध अर्हत् के उपदेश से ही जाने जाते हैं। वे ज्ञापक होने के कारण हमारे अधिक निकट हैं, अधिक पूजनीय हैं, अतः उनको प्रथम स्थान दिया गया।[4] आचार्य मलयगिरि ने एक तर्क और प्रस्तुत किया कि अर्हत् और सिद्ध की कृतकृत्यता में दीर्घकाल का व्यवधान नहीं है। उनकी कृतकृत्यता प्रायः समान ही है।[5] आत्मविकास की दृष्टि से देखा जाए तो अर्हत् और सिद्ध में कोई अन्तर नहीं होता। आत्म-विकास में बाधा डालने वाले चार घात्यकर्म ही हैं। उनके क्षीण होने पर आत्म-स्वरूप पूर्ण विकसित हो जाता है। विकास का अंश भी न्यून नहीं रहता। केवल भवोपग्राही कर्म शेष रहने के कारण अर्हत् शरीर को धारण किये रहते हैं। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि अर्हत् से सिद्ध बड़े हैं। नैश्चयिक दृष्टि से बड़े-छोटे का कोई प्रश्न ही नहीं है। यह प्रश्न मात्र व्यावहारिक है। व्यवहार के स्तर पर अर्हत् का प्रथम स्थान अधिक उचित है। अर्हत् या तीर्थंकर धर्म के आदिकर होते हैं। धर्म का स्रोत उन्हीं से निकलता है। उसी में निष्णात होकर अनेक व्यक्ति सिद्ध बनते हैं। अतः व्यवहार के धरातल पर धर्म के आदिकर या महास्रोत होने के कारण जितना महत्त्व अर्हत् का है उतना सिद्ध का नहीं। प्रथम पद में अर्हत् शब्द के द्वारा केवल तीर्थंकर ही विवक्षित है, अन्य केवली या अर्हत् विवक्षित नहीं हैं। यदि नैश्चयिक दृष्टि की बात होती तो सामान्य केवली या सामान्य अर्हत् को पाँचवें पद में सब साधुओं की श्रेणी में नहीं रखा जाता। आचार्य और उपाध्याय तीसरे-चौथे पद में हैं और केवली पाँचवें पद में। इसका हेतु व्यावहारिक उपयोगिता ही है।

यह प्रश्न किया गया कि आचार्य अर्हत् के भी ज्ञापक होते हैं, इसलिए 'णमो आयरियाणं' यह प्रथम पद होना चाहिए। इसके उत्तर में निर्युक्तिकार से कहा—आचार्य अर्हत् की परिषद् होते हैं। कोई भी व्यक्ति परिषद्

---

१. **आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा १०२० :**
अरिहंताई नियमा साहू साहू य तेसु भइयव्वा।
तम्हा पंचविहो खलु हेउनिमित्तं हवइ सिद्धो॥
२. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा १०२० : मलयगिरिवृत्ति पत्र ५५२-५५३।
३. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा १०२१ :
पुव्वाणुपुव्वि न कमो नेव य पच्छाणुपुव्वि एस भवे।
सिद्धाईआ पढमा बीआए साहुणो आई॥
४. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा १०२२ :
'अरिहंतुवएसेणं सिद्धा न ज्जंति तेण अरिहाई।'
५. आवश्यकनिर्युक्ति, मलयगिरि वृत्ति, पत्र ५५३।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को प्रणाम कर राजा को प्रणाम नहीं करता। अर्हत् और सिद्ध—दोनों तुल्य-बल हैं, इसलिए उनमें पौर्वापर्य का विचार किया जा सकता है, किन्तु परमनायक अर्हत् और परिषद्-कल्प आचार्य में पौर्वापर्य का विचार नहीं किया जा सकता।

नमस्कार महामन्त्र का महत्त्व

प्रस्तुत महामन्त्र समग्र जैन शासन में समानरूप से प्रतिष्ठा-प्राप्त है। यही इसकी प्राचीनता का हेतु है। यदि यह श्वेताम्बर और दिगम्बर का अन्तर होने के बाद निर्मित होता तो संभव है कि समग्र जैन शासन में इसे इतनी प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं होती। किसी एक सम्प्रदाय में इसका महत्त्व होता, दूसरे में इतना महत्त्व नहीं होता। यह मन्त्राधिराज के रूप में प्रतिष्ठित नहीं होता। लगभग डेढ़ हजार वर्ष की अवधि में इस महामन्त्र पर विपुल साहित्य रचा गया। इसके सहारे अनेक यन्त्रों का विकास हुआ और इसकी स्तुति में अनेक काव्य रचे गये। यह जैनत्व का प्रतीक बना हुआ है। जो जैन होता है वह कम से कम महामन्त्र का अवश्य पाठ करता है। वह कैसा जैन जो महामन्त्र को नहीं जानता? जो नमस्कार महामन्त्र को धारण करता है, वह श्रावक है। उसे परमबन्धु मानना चाहिए। इस उक्ति से हम नमस्कार महामन्त्र की व्यापकता का मूल्यांकन कर सकते हैं।

□

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org